

Chapter नौ

मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् का अवतार

इस अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार सारे असुर मोहिनी के सौन्दर्य से मोहित होकर उसे अमृत-पात्र देने के लिए राजी हो गये जिसने बड़ी ही चातुरी से देवताओं को वह पात्र दे दिया।

जब असुरों को अमृत-पात्र मिल गया तो उनके समक्ष एक अद्वितीय सुन्दरी प्रकट हुई। सारे असुर इस तरुणी के सौन्दर्य से मोहित हो गये और उस पर आसक्त हो गए। चूँकि असुर अमृत पाने के लिए आपस में लड़ रहे थे अतएव उन्होंने अपने झगड़े को निपटाने के लिए इस सुन्दरी को मध्यस्थ चुना। उनकी इस दुर्बलता का लाभ उठाते हुए भगवान् की अवतार मोहिनी ने असुरों से यह वचन ले लिया कि वह जो भी फैसला करेगी उससे असुरगण विचलित नहीं होंगे। जब असुरों ने यह वचन दे दिया तो सुन्दर स्त्री मोहिनी-मूर्ति ने असुरों तथा देवताओं को अलग-अलग पंक्तियों में बैठा दिया जिससे वह अमृत वितरण कर सके। वह जानती थी कि असुर अमृत पान करने के योग्य नहीं हैं; अतएव उन्हें

धोखा देकर उसने सारा अमृत देवताओं में बाँट दिया। जब असुरों ने मोहिनी-मूर्ति का यह छल देखा तो वे मौन बने रहे। किन्तु उनमें से राहु नामक एक असुर ने देवता का वेश धारण कर लिया और वह जाकर देवताओं की पंक्ति में बैठ गया। वह सूर्य तथा चन्द्रमा के निकट जा बैठा। जब भगवान् ने जान लिया कि राहु किस तरह धोखा दे रहा है, तो उन्होंने तुरन्त ही उसका सिर काट लिया। किन्तु राहु ने पहले ही अमृत चख लिया था; अतएव सिर काटे जाने के बावजूद भी वह जीवित रहा। जब देवतागण अमृत पी चुके तो भगवान् ने पुनः अपना पूर्व-रूप धारण कर लिया। शुकदेव गोस्वामी इस अध्याय की समाप्ति इस वर्णन के साथ करते हैं कि भगवान् के पवित्र नामों, उनकी लीलाओं तथा साज-सामान के जप में कितनी शक्ति होती है।

श्रीशुक उवाच

तेऽन्योन्यतोऽसुराः पात्रं हरन्तस्त्यक्तसौहृदाः ।

क्षिपन्तो दस्युधर्माण आयान्तीं ददृशुः स्त्रियम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; ते—वे असुर; अन्योन्यतः—परस्पर; असुराः—असुरगण; पात्रम्—अमृत का बर्तन; हरन्तः—एक दूसरे से छीनते हुए; त्यक्त-सौहृदाः—एक दूसरे के शत्रु बन गये; क्षिपन्तः—कभी-कभी फेंकते हुए; दस्यु-धर्माणः—कभी-कभी लुटेरों की तरह छीनते हुए; आयान्तीम्—आगे आते हुए; ददृशुः—देखा; स्त्रियम्—अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक स्त्री को।

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : तत्पश्चात् असुर एक दूसरे के शत्रु बन गये। उन्होंने अमृत पात्र को फेंकते और छीनते हुए अपना मैत्री-सम्बन्ध तोड़ लिया। इसी बीच उन्होंने देखा कि एक अत्यन्त सुन्दर तरुणी उनकी ओर आ रही है।

अहो रूपमहो धाम अहो अस्या नवं वयः ।

इति ते तामभिद्रुत्य पप्रच्छुर्जातहृच्छयाः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अहो—कितना आश्चर्यजनक है; रूपम्—इसकी सुन्दरता; अहो—कितना अद्भुत है; धाम—इसकी शारीरिक कान्ति; अहो—कितना आश्चर्यजनक; अस्याः—इसका; नवम्—नयी; वयः—युवावस्था; इति—इस तरह; ते—वे असुर; ताम्—उस सुन्दर स्त्री को; अभिद्रुत्य—तेजी से उसके समक्ष जाकर; पप्रच्छुः—उससे पूछा; जात-हृत्-शयाः—उसका भोग करने की कामवासना से भरे हुए हृदय।

उस सुन्दरी को देखकर असुरों ने कहा : ओह! इसका सौन्दर्य कितना आश्चर्यजनक है, इसके शरीर की कान्ति कितनी अद्भुत है और इसकी तरुणावस्था का सौन्दर्य कितना उत्कृष्ट है! इस तरह कहते हुए वे उसका भोग करने की कामवासना से पूरित होकर तेजी से उसके पास

पहुँच गये और उससे तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे।

का त्वं कञ्जपलाशाक्षि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।
कस्यासि वद वामोरु मथ्णतीव मनांसि नः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; त्वम्—तुम हो; कञ्ज-पलाश-अक्षि—कमल की पंखड़ियों जैसी आँखों वाली; कुतः—कहाँ से; वा—अथवा; किम् चिकीर्षसि—तुम किस प्रयोजन से यहाँ आई हो; कस्य—किसकी; असि—हो; वद—कृपया हमसे कहो; वाम-ऊरु—हे अद्वितीय सुन्दर जाँघों वाली; मथ्णती—विचलित करती हुई; इव—इस प्रकार; मनांसि—मनों को; नः—हमारे।

हे अद्भुत सुन्दरी बाला! तुम्हारी आँखें इतनी सुन्दर हैं कि वे कमल पुष्प की पंखड़ियों जैसी लगती हैं। तुम आखिर हो कौन? तुम कहाँ से आई हो? यहाँ आने का तुम्हारा प्रयोजन क्या है और तुम किसकी हो? हे अद्वितीय सुन्दर जाँघों वाली! हमारे मन तुम्हारे दर्शनमात्र से ही विचलित हो रहे हैं।

तात्पर्य : असुरों ने उस अद्वितीय सुन्दरी से पूछा, “तुम किसकी हो?” स्त्री अपने विवाह के पूर्व पिता की होती है, विवाह के बाद पति की होती है और बुढ़ापे में अपने बड़े पुत्रों की होती है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि, “तुम किसकी हो?” प्रश्न का अर्थ है “तुम किसकी पुत्री हो?” चूँकि असुरगण यह समझ पाये थे कि वह सुन्दरी अब भी अविवाहित है अतएव उनमें से हर एक उससे विवाह करना चाहता था। इस तरह उन्होंने पूछा “तुम किसकी पुत्री हो?”

न वयं त्वामरैदैत्यैः सिद्धगन्धर्वचारणैः ।
नास्पृष्टपूर्वा जानीमो लोकेशैश्च कुतो नृभिः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वयम्—हम; त्वा—तुमको; अमरैः—देवताओं द्वारा; दैत्यैः—असुरों द्वारा; सिद्ध—सिद्धों द्वारा; गन्धर्व—गन्धर्वों द्वारा; चारणैः—तथा चारणों द्वारा; न—नहीं; अस्पृष्ट-पूर्वम्—किसी के द्वारा कभी भी न तो भोगी गई न स्पर्श की गई; जानीमः—ठीक से जान लो; लोक-ईशैः—ब्रह्माण्ड के विभिन्न निर्देशकों द्वारा; च—भी; कुतः—क्या कहा जाये; नृभिः—मानव समाज द्वारा।

मनुष्यों की कौन कहे, देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, चारण तथा ब्रह्माण्ड के विभिन्न निर्देशक अर्थात् प्रजापति तक इसके पूर्व तुम्हारा स्पर्श नहीं कर पाये। ऐसा नहीं है कि हम तुम्हें ठीक से पहचान नहीं पा रहे हों।

तात्पर्य : असुरों तक ने यह शिष्टाचार निभाया कि उनमें से कोई भी विवाहिता स्त्री को

विषयवासना से युक्त होकर सम्बोधित न करे। महान् विश्लेषक चाणक्य पण्डित कहते हैं— *मातृवत् परदारेषु*—मनुष्य को चाहिए कि दूसरे की पत्नी को अपनी माता माने। असुरों ने यह मान लिया था कि वह तरुण सुन्दरी मोहिनी-मूर्ति जो उनके समक्ष आयी थी निश्चय ही, अविवाहिता थी। अतएव उन्होंने यह मान लिया कि इस संसार के किसी भी व्यक्ति ने जिसमें देवता, गन्धर्व, चारण, सिद्ध सम्मिलित हैं, उसका कभी स्पर्श नहीं किया होगा। असुर जानते थे कि वह तरुणी अविवाहिता थी अतएव उन्होंने उसे सम्बोधित करने का साहस जुटाया। उन्होंने यह मान लिया कि वह तरुणी मोहिनी-मूर्ति वहाँ पर उन सबके बीच (असुर, देवता, गन्धर्व इत्यादि) अपने लिए पति की खोज करने आयी है।

नूनं त्वं विधिना सुभूः प्रेषितासि शरीरिणाम् ।
सर्वेन्द्रियमनःप्रीतिं विधातुं सघृणेन किम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निस्सन्देह; त्वम्—तुम; विधिना—विधाता द्वारा; सु-भूः—हे सुन्दर भौंहों वाली; प्रेषिता—भेजी गई; असि—तुम हो; शरीरिणाम्—समस्त देहधारी जीवों का; सर्व—सभी; इन्द्रिय—इन्द्रियों; मनः—तथा मन को; प्रीतिम्—अच्छी लगने वाली; विधातुम्—तृप्त करने के लिए; स-घृणेन—अपनी अहैतुकी कृपा से; किम्—क्या।

हे सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरी! निश्चय ही, विधाता ने अपनी अहैतुकी कृपा से तुम्हें हम लोगों की इन्द्रियों और मनों को प्रसन्न करने के लिए भेजा है। क्या यह तथ्य नहीं है?

सा त्वं नः स्पर्धमानानामेकवस्तुनि मानिनि ।
ज्ञातीनां बद्धवैराणां शं विधत्स्व सुमध्यमे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सा—जैसी तुम हो; त्वम्—तुम; नः—हम सभी असुरों के; स्पर्धमानानाम्—जो अधिकाधिक शत्रु बनते जा रहे हैं, उनके; एक-वस्तुनि—एक वस्तु में (अमृत-पात्र में); मानिनि—हे प्रतिष्ठित सुन्दरी; ज्ञातीनाम्—अपने परिवार वालों में; बद्ध-वैराणाम्—अधिकाधिक शत्रु बनकर; शम्—कल्याण; विधत्स्व—सम्पन्न करो; सु-मध्यमे—हे पतली कमर वाली सुन्दरी।

इस समय हम लोग एक ही बात को—अमृत घट को—लेकर परस्पर शत्रुता में मग्न हैं। यद्यपि हम एक ही कुल में उत्पन्न हुए हैं फिर भी हममें शत्रुता बढ़ती ही जा रही है। अतएव हे क्षीण कटि वाली सुप्रतिष्ठित सुन्दरी! हमारी आपसे प्रार्थना है कि आप हमारे इस झगड़े को निपटाने की कृपा करें।

तात्पर्य : असुर लोग समझ गये थे कि उस सुन्दरी ने उन सब का मन मोह लिया था। अतएव उन्होंने एक स्वर से उससे प्रार्थना की कि वह उनके झगड़े का निपटारा करने के लिए मध्यस्था की

भूमिका निभाए।

वयं कश्यपदायादा भ्रातरः कृतपौरुषाः ।

विभजस्व यथान्यायं नैव भेदो यथा भवेत् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

वयम्—हम सभी; कश्यप-दायादा:—कश्यप मुनि के वंशज; भ्रातरः—हम सभी भाई हैं; कृत-पौरुषाः—हम सभी समर्थ एवं दक्ष हैं; विभजस्व—जरा बाँट दें; यथा-न्यायम्—न्यायपूर्वक; न—नहीं; एव—निश्चय ही; भेदः—पक्षपात; यथा—जिस तरह; भवेत्—हो सके।

हम सभी देवता तथा असुर दोनों ही एक ही पिता कश्यप की सन्तानें हैं और इस तरह से भाई-भाई हैं। किन्तु मतभेद के कारण हम अपना-अपना पराक्रम दिखला रहे हैं। अतएव आपसे हमारी विनती है कि हमारे झगड़े का निपटारा कर दें और इस अमृत को हममें बराबर-बराबर बाँट दें।

इत्युपामन्त्रितो दैत्यैर्मायायोषिद्विपुर्हरिः ।

प्रहस्य रुचिरापाङ्गैर्निरीक्षन्निदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उपामन्त्रितः—अनुरोध किये जाने पर; दैत्यैः—असुरों के द्वारा; माया-योषित्—मायावी स्त्री ने; वपुः हरिः—भगवान् की अवतार; प्रहस्य—हँसते हुए; रुचिर—सुन्दर; अपाङ्गैः—स्त्री-सुलभ हाव भाव दिखा कर; निरीक्षन्—उनको देखते हुए; इदम्—ये शब्द; अब्रवीत्—कहे।

असुरों द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर सुन्दरी का रूप धारण किये हुए भगवान् हँसने लगे। फिर स्त्री-सुलभ मोहक हावभाव से उनकी ओर देखते हुए उस सुन्दरी ने इस प्रकार कहा।

श्रीभगवानुवाच

कथं कश्यपदायादाः पुंश्रुल्यां मयि सङ्गताः ।

विश्वासं पण्डितो जातु कामिनीषु न याति हि ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् ने कहा; कथम्—ऐसा कैसे है; कश्यप-दायादाः—तुम सभी कश्यप मुनि के वंशज हो; पुंश्रुल्याम्—मनुष्यों के मनों को विचलित करने वाली वेश्या को; मयि—मेरी; सङ्गताः—संगति में आये हो; विश्वासम्—विश्वास; पण्डितः—विद्वान्; जातु—किसी भी समय; कामिनीषु—स्त्री में; न—नहीं; याति—होता है; हि—निस्सन्देह।

मोहिनी-रूप भगवान् ने असुरों से कहा : हे कश्यपमुनि के पुत्रो! मैं तो एक वेश्या हूँ। तुम लोग किस तरह मुझ पर इतना विश्वास कर रहे हो? विद्वान् पुरुष कभी स्त्री पर विश्वास नहीं करते।

तात्पर्य : महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिवेत्ता चाणक्य पण्डित ने कहा है— *विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च*—स्त्री या राजनीतिज्ञ पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। इस प्रकार स्त्री का रूप धारण किये हुए भगवान् ने असुरों को सचेत किया कि वे उस पर अधिक विश्वास न करें क्योंकि वह उन्हें अन्ततः धोखा देने के लिए मोहिनी रूप में प्रकट हुई हैं। अप्रत्यक्ष रूप में उसने उनके समक्ष प्रकट होने का अपना प्रयोजन प्रकट करते हुए कश्यप के पुत्रों से कहा “यह सब क्या है? तुम सभी एक महान् ऋषि की सन्तानें हो; फिर भी तुम ऐसी स्त्री पर विश्वास कर रहे हो जो अपने पिता या पति द्वारा सुरक्षा के अभाव में वेश्या की तरह इधर-उधर घूम रही है? सामान्यतया स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए; तो ऐसी स्त्री का क्या कहना जो एक वेश्या की भ्रान्ति इधर उधर घूम रही हो,” इस प्रसंग में *कामिनी* शब्द महत्त्वपूर्ण है। स्त्रियाँ, और वह भी सुन्दर तरुण स्त्रियाँ, मनुष्य की सुप्त कामवासना को जगाती हैं। अतएव *मनुसंहिता* के अनुसार प्रत्येक स्त्री की रक्षा या तो उसके पति या पिता द्वारा या उसके सयाने पुत्रों द्वारा की जानी चाहिए। ऐसे संरक्षण के अभाव में स्त्री का शोषण होगा। वास्तव में स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा भोगी जाना पसन्द करती हैं। ज्योंही कोई स्त्री पुरुष द्वारा भोगी जाती है, वह सामान्य वेश्या बन जाती है। इसी की व्याख्या मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् द्वारा हुई है।

सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विषः ।

सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सालावृकाणाम्—बन्दरों, सियारों तथा कुत्तों की; स्त्रीणाम् च—तथा स्त्रियों की; स्वैरिणीनाम्—विशेष रूप से स्वच्छन्द स्त्रियों की; सुर-द्विषः—हे असुरो; सख्यानि—मित्रता; आहुः—कही जाती है; अनित्यानि—क्षणिक; नूत्नम्—नये मित्र; नूत्नम्—नये मित्र; विचिन्वताम्—चिन्तन करने वालों की।

हे असुरो! जिस प्रकार बन्दर, सियार तथा कुत्ते अपने यौन सम्बन्धों में अस्थिर होते हैं और नित्य ही नया मित्र चाहते हैं उसी प्रकार जो स्त्रियाँ स्वच्छन्द होती हैं (स्वैरिणी) वे नित्य नया मित्र ढूँढती हैं। ऐसी स्त्री की मित्रता कभी स्थायी नहीं होती। यह विद्वानों का अभिमत है।

श्रीशुक उवाच

इति ते क्ष्वेलितैस्तस्या आश्वस्तमनसोऽसुराः ।

जहसुर्भावगम्भीरं ददुश्चामृतभाजनम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; ते—वे असुर; क्ष्वेलितैः—परिहास करने से; तस्याः—मोहिनी-मूर्ति के; आश्वस्त—कृतज्ञ, विश्वास युक्त; मनसः—मनो से; असुराः—सारे असुर; जहसुः—हँस पड़े; भाव-गम्भीरम्—यद्यपि मोहिनी-मूर्ति गम्भीर थी; ददुः—दे दिया; च—भी; अमृत-भाजनम्—अमृत का पात्र।

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा : मोहिनी-मूर्ति के परिहासपूर्ण शब्द सुनकर सारे असुर अत्यधिक आश्वस्त हुए। वे गम्भीर रूप से हँस पड़े और अन्ततः उन्होंने वह अमृत घट उसके हाथों में थमा दिया।

तात्पर्य : मोहिनी का रूप धारण किये हुए भगवान् कोई हँसी-मजाक नहीं कर रहे थे वरन् गम्भीर बातें कर रहे थे। लेकिन असुर मोहिनी-मूर्ति के शारीरिक अंगों पर मोहित होने के कारण उनकी बातों को हँसी समझ रहे थे और उन्होंने आश्वस्त होकर उस अमृत-पात्र को मोहिनी के हाथों में सौंप दिया। इस तरह मोहिनी मूर्ति भगवान् बुद्ध के समान है, जो सम्मोहाय सुरद्विषाम् अर्थात् असुरों को धोखा देने के लिए प्रकट हुई। सुरद्विषाम् शब्द उनका सूचक है, जो देवताओं या भक्तों से ईर्ष्या रखते हैं। कभी-कभी भगवान् का अवतार नास्तिकों को धोखा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि मोहिनी-मूर्ति असुरों से वास्तविक बातें कह रही थी, किन्तु वे उसके वचनों को ठिठोली समझ रहे थे। निस्सन्देह, वे मोहिनी-मूर्ति की निष्कपटता के प्रति इतने आश्वस्त थे कि उन्होंने तुरन्त ही अमृत-पात्र उसको सौंप दिया मानो वे उसे यह छूट दे रहे हों कि वह इस अमृत का चाहे जो करे—चाहे बाँट दे, चाहे फेंक दे या उनको दिये बिना स्वयं ही पी जाये।

ततो गृहीत्वामृतभाजनं हरि-

र्बभाष ईषत्स्मितशोभया गिरा ।

यद्यभ्युपेतं क्व च साध्वसाधु वा

कृतं मया वो विभजे सुधामिमाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; गृहीत्वा—लेकर; अमृत-भाजनम्—अमृत-पात्र को; हरिः—मोहिनी के रूप में हरि ने; बभाष—कहा; ईषत्—कुछ-कुछ; स्मित-शोभया गिरा—हँसती अदा से तथा शब्दों से; यदि—यदि; अभ्युपेतम्—स्वीकार करने का वचन; क्व च—जो भी हो; साधु असाधु वा—अच्छा या बुरा; कृतम् मया—मेरे द्वारा किया गया; वः—तुम्हारे लिए; विभजे—तुम्हें समुचित भाग प्रदान करूँगी; सुधाम्—अमृत को; इमाम्—इस।

तत्पश्चात् अमृत घट को अपने हाथ में लेकर भगवान् थोड़ा मुस्काये और फिर आकर्षक शब्दों में बोले। उस मोहिनी-मूर्ति ने कहा : मेरे प्रिय असुरो! मैं जो कुछ भी करूँ, चाहे वह खरा हो या खोटा, यदि तुम उसे स्वीकार करो तब मैं इस अमृत को तुम लोगों में बाँटने का

उत्तरदायित्व ले सकती हूँ।

तात्पर्य : भगवान् किसी के आदेश से बन्धे नहीं हैं। वे जो कुछ करते हैं, वह परम है। निस्सन्देह, असुर भगवान् की माया से मोहग्रस्त हो गए थे; अतः मोहिनी-मूर्ति ने उनसे वचन ले लिया कि वह जो कुछ भी करेगी, उन्हें मान्य होगा।

इत्यभिव्याहृतं तस्या आकर्ण्यसुरपुङ्गवाः ।

अप्रमाणविदस्तस्यास्तत्तथेत्यन्वमंसत ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अभिव्याहृतम्—कहे गये शब्द; तस्याः—उसके; आकर्ण्य—सुनकर; असुर-पुङ्गवाः—असुरों में प्रधान; अप्रमाण-विदः—चूँकि वे सभी मूर्ख थे; तस्याः—उसका; तत्—वे वचन; तथा—ऐसा ही हो; इति—इस प्रकार; अन्वमंसत—स्वीकार करने के लिए राजी हो गये।

असुरों के प्रधान निर्णय लेने में अधिक पटु नहीं थे। अतएव मोहिनी मूर्ति के मधुर शब्दों को सुनकर उन्होंने तुरन्त हामी भर दी और कहा “हाँ, आपने जो कहा है, वह बिल्कुल ठीक है।” इस तरह असुर उसका निर्णय स्वीकार करने के लिए राजी हो गए।

अथोपोष्य कृतस्नाना हुत्वा च हविषानलम् ।

दत्त्वा गोविप्रभूतेभ्यः कृतस्वस्त्ययना द्विजैः ॥ १४ ॥

यथोपजोषं वासांसि परिधायाहतानि ते ।

कुशेषु प्राविशन्सर्वे प्रागग्रेष्वभिभूषिताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; उपोष्य—उपवास रखकर; कृत-स्नानाः—स्नान करके; हुत्वा—आहुति डालकर; च—भी; हविषा—घी से; अनलम्—अग्नि में; दत्त्वा—दान देकर; गो-विप्र-भूतेभ्यः—गायों, ब्राह्मणों तथा समस्त जीवों को; कृत-स्वस्त्ययनाः—विधि-विधान सम्पन्न करके; द्विजैः—ब्राह्मणों के द्वारा निश्चित; यथा-उपजोषम्—अपनी रुचि के अनुसार; वासांसि—वस्त्र; परिधाय—पहन कर; आहतानि—उत्तम तथा नवीन; ते—वे सब; कुशेषु—कुश से बने आसनों पर; प्राविशन्—बैठकर; सर्वे—सभी; प्राक्-अग्रेषु—पूर्व की ओर मुख करके; अभिभूषिताः—ठीक से आभूषणों से अलंकृत होकर।

तब असुरों तथा देवताओं ने उपवास किया। स्नान करने के बाद उन्होंने अग्नि में घी की आहुतियाँ डाली और गायों, ब्राह्मणों तथा समाज के अन्य वर्णों—क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों—को उनकी पात्रता के अनुसार दान दिया। तत्पश्चात् असुरों तथा देवों ने ब्राह्मणों के निर्देशानुसार अनुष्ठान सम्पन्न किये। तब अपनी रुचि के अनुसार नये वस्त्र धारण किये, आभूषणों से अपने-अपने शरीरों को अलंकृत किया और वे पूर्व-दिशा की ओर मुख करके कुशासनों पर बैठ गये।

तात्पर्य : वेदों का आदेश है कि किसी भी अनुष्ठान के पूर्व गंगा, यमुना या समुद्र में स्नान करके

शुद्ध हुआ जाय। तब उसे अनुष्ठान करना चाहिए और अग्नि में घी की आहुति देनी चाहिए। इस श्लोक में परिधाय आहतानि शब्द विशेष महत्त्व के हैं। संन्यासी या अनुष्ठान करनेवाले व्यक्ति को सूई से सिले कपड़े पहनना वर्जित है।

प्राङ्मुखेषूपविष्टेषु सुरेषु दितिजेषु च ।
धूपामोदितशालायां जुष्टायां माल्यदीपकैः ॥ १६ ॥

तस्यां नरेन्द्र करभोरुरुशदुकूल-
श्रोणीतटालसगतिर्मदविह्वलाक्षी ।
सा कूजती कनकनूपुरशिञ्जितेन
कुम्भस्तनी कलसपाणिरथाविवेश ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

प्राक्-मुखेषु—पूर्व की ओर मुँह किये; उपविष्टेषु—अपने-अपने आसनों पर बैठे; सुरेषु—सारे देवताओं में; दिति-जेषु—असुरों में; च—भी; धूप-आमोदित-शालायाम्—रंगभूमि (सभा-मंडप) जो धूप के धुएँ से पूर्ण थी; जुष्टायाम्—पूर्णतया सजी हुई; माल्य-दीपकैः—फूलों की मालाओं तथा दीपकों से; तस्याम्—उस रंगभूमि (सभा-मंडप) में; नर-इन्द्र—हे राजा; करभ-ऊरुः—हाथी के सूँडों सदृश जाँघों वाली; उशत्-दुकूल—अत्यन्त सुन्दर साड़ी पहने; श्रोणी-तट—गुरु नितम्बों के कारण; अलस-गतिः—धीरे-धीरे पग रखती; मद-विह्वल-अक्षी—जिसकी आँखें युवावस्था के गर्व से बेचैन थीं; सा—वह; कूजती—झंकार करती; कनक-नूपुर—सोने के पायल; शिञ्जितेन—ध्वनि करती; कुम्भ-स्तनी—जल के घट सदृश स्तनों वाली; कलस-पाणिः—हाथ में जल का पात्र लिए; अथ—इस प्रकार; आविवेश—रंगभूमि में प्रविष्ट हुई।

हे राजा! ज्यों ही देवता तथा असुर पूर्व दिशा में मुख करके उस सभा-मण्डप में बैठ गये जो फूल मालाओं तथा बत्तियों से पूर्णतया सजाया गया था और धूप के धुएँ से सुगन्धित हो गया था, उसी समय अत्यन्त सुन्दर साड़ी पहने, पायलों की झनकार करती उस स्त्री ने अत्यन्त गुरु नितम्बों के कारण मन्द गति से चलते हुए उस सभा-मण्डप में प्रवेश किया। उसकी आँखें युवावस्था के मद से विह्वल थीं; उसके स्तन जल से पूर्ण घटों के समान थे; उसकी जाँघें हाथी की सूँड़ जैसी दिखती थीं और वह अपने हाथ में अमृत-पात्र लिए हुए थी।

तां श्रीसखीं कनककुण्डलचारुकर्ण-
नासाकपोलवदनां परदेवताख्याम् ।
संवीक्ष्य सम्मुमुहुरुत्स्मितवीक्षणेन
देवासुरा विगलितस्तनपट्टिकान्ताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस; श्री-सखीम्—लक्ष्मी की सखी के समान लगने वाली; कनक-कुण्डल—सुनहले कुण्डलों से युक्त; चारु—अत्यधिक सुन्दर; कर्ण—कान; नासा—नाक; कपोल—गाल; वदनाम्—मुख; पर-देवता-आख्याम्—उस रूप में प्रकट भगवान् को; संवीक्ष्य—उसकी ओर देखकर; सम्मुमुहुः—सारे मोहित हो गये; उत्स्मित—कुछ-कुछ मुस्काते; वीक्षणेन—दृष्टि

डालते हुए; देव-असुरा:— सारे देवता तथा असुर; विगलित-स्तन-पट्टिक-अन्ताम्—साड़ी का किनारा स्तनों से खिसक रहा था।

उसकी आकर्षक नाक तथा गालों और सुनहले कुण्डलों से विभूषित कानों ने उसके मुखमण्डल को अतीव सुन्दर बना दिया था। जब वह चलती थी उसकी साड़ी का किनारा उसके स्तनों से खिसक रहा था। जब देवताओं तथा असुरों ने मोहिनी-मूर्ति के इन सुन्दर अंगों को देखा तो वे सब पूरी तरह मोहित हो गये क्योंकि वह उनको तिरछी नजर से देख-देख कर कुछ कुछ मुस्काती जा रही थी।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टिप्पणी है कि मोहिनी-मूर्ति भगवान् का स्त्री रूप है और लक्ष्मी उनकी संगिनी हैं। भगवान् द्वारा धारण किया गया यह रूप लक्ष्मी को चुनौती दे रहा था। लक्ष्मीजी सुन्दर हैं, किन्तु यदि भगवान् स्त्री का रूप धारण करते हैं, तो वे लक्ष्मी की सुन्दरता को भी मात कर देते हैं। ऐसा नहीं है कि नारी होने के कारण लक्ष्मीजी सर्वाधिक सुन्दर हैं। भगवान् इतने सुन्दर हैं कि वे नारी रूप धारण करने पर किसी भी लक्ष्मीदेवी के सौन्दर्य को मात कर सकते हैं।

असुराणां सुधादानं सर्पाणामिव दुर्नयम् ।

मत्वा जातिनृशंसानां न तां व्यभजदच्युतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

असुराणाम्—असुरों का; सुधा-दानम्—अमृत देना; सर्पाणाम्—साँपों का; इव—सदृश; दुर्नयम्—गलत अनुमान; मत्वा—इस प्रकार सोचकर; जाति-नृशंसानाम्—प्रकृति से अत्यधिक ईर्ष्यालुओं का; न—नहीं; ताम्—अमृत को; व्यभजत्—भाग दे दिया; अच्युतः—अच्युत भगवान् ने।

असुर स्वभाव से सर्पों के समान कुटिल होते हैं। अतएव उन्हें अमृत में से हिस्सा देना तनिक भी सम्भव नहीं था क्योंकि यह सर्प को दूध पिलाने के समान घातक होता। यह सोचकर अच्युत भगवान् ने असुरों को अमृत में हिस्सा नहीं दिया।

तात्पर्य : कहा गया है—सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः—सर्प अत्यन्त कुटिल तथा ईर्ष्यालु होता है और इसी तरह असुर होता है। मन्त्रौषधिवशः सर्पः खलः केन निवार्यते—सर्प को तो मंत्र अर्थात् जड़ी बूटियों के बल से वश में किया जा सकता है लेकिन ईर्ष्यालु कुटिल मनुष्य को किसी भी तरह वश में नहीं किया जा सकता। इस तर्क के अनुसार भगवान् ने सोचा कि असुरों को अमृत देना मूर्खता होगी।

कल्पयित्वा पृथक्पङ्कीरुभयेषां जगत्पतिः ।
तांश्रोपवेशयामास स्वेषु स्वेषु च पङ्क्तिषु ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कल्पयित्वा—व्यवस्था करके; पृथक् पङ्कीः—अलग-अलग पंक्तियाँ; उभयेषाम्—देवता तथा असुर दोनों की; जगत्-पतिः—ब्रह्माण्ड के स्वामी ने; तान्—उन सबों को; च—तथा; उपवेशयाम् आस—बैठा दिया; स्वेषु स्वेषु—अपने-अपने स्थानों पर; च—भी; पङ्क्तिषु—पंक्तियों में।

मोहिनी-मूर्ति रूपी ब्रह्माण्ड के स्वामी भगवान् ने देवताओं तथा असुरों को बैठने के लिए अलग-अलग पंक्तियों की व्यवस्था कर दी और उन्हें अपने-अपने पद के अनुसार बैठा दिया।

दैत्यान्गृहीतकलसो वञ्चयन्नुपसञ्चरैः ।
दूरस्थान्पाययामास जरामृत्युहरां सुधाम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

दैत्यान्—असुरों को; गृहीत-कलसः—अमृत का घट पकड़े भगवान् ने; वञ्चयन्—ठगते हुए; उपसञ्चरैः—मीठे वचनों से; दूर-स्थान्—देवता, जो दूर बैठे थे; पाययाम् आस—पिलाया; जरा-मृत्यु-हराम्—अशक्तता, बुढ़ापा तथा मृत्यु को हरने वाले; सुधाम्—ऐसे अमृत को।

अपने हाथों में अमृत का कलश लिये वह सर्वप्रथम असुरों के निकट आई और उसने अपनी मधुर वाणी से उन्हें सन्तुष्ट किया और इस तरह उनके अमृत के भाग से उन्हें वंचित कर दिया। तब उसने दूरी पर बैठे देवताओं को अमृत पिला दिया जिससे वे अशक्तता, बुढ़ापा तथा मृत्यु से मुक्त हो सकें।

तात्पर्य : मोहिनी-मूर्ति भगवान् ने देवताओं को दूर बैठाया। तब वह असुरों के पास पहुँची और उनसे अत्यधिक अदा से बोली जिससे वे अपने को उससे बात करने में भाग्यशाली समझें। चूँकि मोहिनी-मूर्ति ने देवताओं को दूरस्थ स्थान पर बिठाया था अतएव असुरों ने सोचा कि देवताओं को नाममात्र का अमृत प्राप्त होगा और मोहिनी-मूर्ति हम पर इतनी प्रसन्न है कि सारा अमृत हमें ही पिला देगी। वञ्चयन्नुपसञ्चरैः शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् की सारी नीति असुरों को मधुर शब्द बोलकर ठगने की थी। भगवान् की इच्छा एकमात्र देवताओं को अमृत बाँटने की थी।

ते पालयन्तः समयमसुराः स्वकृतं नृप ।
तूष्णीमासन्कृतस्नेहाः स्त्रीविवादजुगुप्सया ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; पालयन्तः—बनाये हुए; समयम्—सन्तुलन; असुराः—असुरगण; स्व-कृतम्—स्वनिर्मित; नृप—हे राजा; तूष्णीम् आसन्—मौन रहे; कृत-स्नेहाः—मोहिनी-मूर्ति के प्रति आसक्ति उत्पन्न होने से; स्त्री-विवाद—स्त्री से मतभेद रखते हुए; जुगुप्सया—ऐसे कृत्य को गर्हित समझते हुए।

हे राजा! चूँकि असुरों ने वचन दिया था कि वह स्त्री जो कुछ भी करेगी, चाहे न्यायपूर्ण हो या अन्याय-पूर्ण, उसे वे स्वीकार करेंगे, अतएव अब अपना वचन रखने, अपना सन्तुलन दिखाने तथा स्त्री से झगड़ा करने से बचने के लिए वे मौन रहे।

तस्यां कृतातिप्रणयाः प्रणयापायकातराः ।

बहुमानेन चाबद्धा नोचुः किञ्चन विप्रियम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—मोहिनी-मूर्ति की; कृत-अति-प्रणयाः—घनिष्ठ मैत्री होने से; प्रणय-अपाय-कातराः—इस भय से भयभीत कि उसके साथ उनकी मैत्री कहीं टूट न जाये; बहु-मानेन—अत्यधिक सम्मान तथा आदर के साथ; च—भी; आबद्धाः—उससे अत्यधिक आसक्त होकर; न—नहीं; ऊचुः—उन्होंने कहा; किञ्चन—कुछ भी नहीं; विप्रियम्—जिससे मोहिनी-मूर्ति उनसे अप्रसन्न हो जाये।

असुरों को मोहिनी-मूर्ति से प्रेम तथा एक प्रकार का विश्वास हो गया था और उन्हें भय था कि उनके सम्बन्ध कहीं डगमगा न जाएँ। अतएव उन्होंने उसके वचनों का आदर-सम्मान किया और ऐसा कुछ भी नहीं कहा जिससे उसके साथ उनकी मित्रता में बाधा पड़े।

तात्पर्य : असुरगण मोहिनी-मूर्ति की छलपूर्ण युक्तियों तथा मैत्रीपूर्ण शब्दों से इतने मुग्ध हो गए कि यद्यपि देवताओं को सर्वप्रथम अमृत बाँटा गया तो भी वे मीठे वचनों से ही शान्त हो गए। भगवान् ने असुरों से कहा, “देवतागण अत्यन्त कंजूस हैं, अतएव वे पहले ही अमृत पी लेने के उत्सुक हैं। अतएव उन्हें ही पहले पी लेने दो। किन्तु तुम उन जैसे नहीं हो, अतएव तुम थोड़े समय तक प्रतीक्षा कर सकते हो। तुम सभी वीर हो, और मुझसे इतने प्रसन्न हो। तुम्हारे लिए श्रेयस्कर होगा कि जब तक देवता अमृत पान न कर लें तब तक तुम लोग प्रतीक्षा करो।”

देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि ।

प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

देव-लिङ्ग-प्रतिच्छन्नः—देवता के वस्त्र से अपने को आच्छादित करके; स्वर्भानुः—राहु ने (जो सूर्य तथा चन्द्रमा पर आक्रमण करके उन्हें ग्रस लेता है); देव-संसदि—देवताओं के समूह में; प्रविष्टः—घुस करके; सोमम्—अमृत; अपिबत्—पी लिया; चन्द्र-अर्काभ्याम्—चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों के द्वारा; च—तथा; सूचितः—बतलाये जाने पर।

सूर्य तथा चन्द्रमा को ग्रसने वाला असुर राहु अपने आपको देवता के वस्त्र से आच्छादित

करके देवताओं के समूह में प्रविष्ट हो गया और किसी के द्वारा, यहाँ तक कि भगवान् के द्वारा भी, जाने बिना अमृत पीने लगा। किन्तु चन्द्रमा तथा सूर्य, राहु से स्थायी शत्रुता के कारण, स्थिति को भांप गये। इस तरह राहु पहचान लिया गया।

तात्पर्य : मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् सारे असुरों को मोहित करने में सफल हो गये, किन्तु राहु इतना चतुर था कि वह मोहित नहीं हुआ। वह समझ गया कि मोहिनी-मूर्ति असुरों को ठग रही है अतएव उसने अपने वस्त्र बदल लिए; उसने देवता का वेश बना लिया और देवताओं के समूह में जा बैठा। यहाँ पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर राहु को भगवान् क्यों नहीं पहचान पाये? कारण यह था कि भगवान् अमृत पीने का मजा चखाना चाहते थे। यह अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जायेगा। किन्तु चन्द्रमा तथा सूर्य राहु से सदैव सतर्क रहते थे। अतएव जब राहु देवताओं के समूह में प्रविष्ट हुआ तो उन्होंने तुरन्त उसे पहचान लिया और तब भगवान् भी उससे सतर्क हो गये।

चक्रेण क्षुरधारेण जहार पिबतः शिरः ।

हरिस्तस्य कबन्धस्तु सुधयाप्लावितोऽपतत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

चक्रेण—चक्र से; क्षुर-धारेण—छुरे जैसा तेज; जहार—काट दिया; पिबतः—अमृत पीते हुए; शिरः—सिर; हरिः—भगवान् ने; तस्य—राहु का; कबन्धः तु—किन्तु शिरविहीन शरीर; सुधया—अमृत के द्वारा; अप्लावितः—स्पर्श न होने से; अपतत्—मृत होकर गिर पड़ा।

भगवान् हरि ने छुरे के समान तेज धार वाले अपने चक्र को चला कर तुरन्त ही राहु का सिर छिन्न कर दिया। जब राहु का सिर उसके शरीर से कट गया तो वह शरीर अमृत का स्पर्श न करने के कारण जीवित नहीं रह पाया।

तात्पर्य : जब मोहिनी-मूर्ति रूप भगवान् ने राहु के सिर को उसके शरीर से छिन्न कर दिया तो सिर तो जीवित रहा, किन्तु शरीर मृत हो गया। राहु मुख से अमृत पी रहा था और इसके पूर्व कि अमृत शरीर में प्रवेश करे, उसका सिर काट दिया गया। इस तरह राहु का सिर तो जीवित रहा, किन्तु उसका शरीर मृत हो गया। भगवान् द्वारा सम्पन्न यह अद्भुत कार्य यह दिखाने के लिए था कि अमृत अद्भुत देव-आहार है।

शिरस्त्वमरतां नीतमजो ग्रहमचीक्रिपत् ।

यस्तु पर्वणि चन्द्रार्कावभिधावति वैरधीः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शिरः—सिर; तु—निस्सन्देह; अमरताम्—अमरता; नीतम्—प्राप्त करके; अजः—ब्रह्माजी; ग्रहम्—एक ग्रह के रूप में; अचीक्रिपत्—पहचान लिया; यः—वही राहु; तु—निस्सन्देह; पर्वणि—पूर्णिमा तथा अमावस्या में; चन्द्र-अर्को—चन्द्रमा तथा सूर्य दोनों का; अभिधावति—पीछा करता है; वैर-धीः—शत्रुता के कारण।

किन्तु अमृत का स्पर्श करने के कारण राहु का सिर अमर हो गया। इस प्रकार ब्रह्माजी ने राहु के सिर को एक ग्रह (लोक) के रूप में मान लिया। चूँकि राहु सूर्य तथा चन्द्रमा का शाश्वत वैरी है, अतः वह पूर्णिमा तथा अमावस्या की रात्रियों में उन पर सदैव आक्रमण करने का प्रयत्न करता है।

तात्पर्य : चूँकि राहु अमर हो गया था इसलिए ब्रह्माजी ने उसे सूर्य या चन्द्रमा जैसे एक ग्रह अथवा लोक के रूप में स्वीकार कर लिया। किन्तु राहु सूर्य तथा चन्द्रमा का नित्य शत्रु होने के कारण पूर्णमासी तथा अमावस्या की रातों में उन पर बारम्बार आक्रमण करता है।

पीतप्रायेऽमृते देवैर्भगवान्लोकभावनः ।

पश्यतामसुरेन्द्राणां स्वं रूपं जगृहे हरिः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

पीत-प्राये—जब पीना लगभग समाप्त हो गया; अमृते—अमृत का; देवैः—देवताओं द्वारा; भगवान्—मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान्; लोक-भावनः—तीनों लोकों के पालक तथा शुभचिन्तक; पश्यताम्—देखते-देखते; असुर-इन्द्राणाम्—अपने सेनापतियों सहित सारे असुरों के; स्वम्—अपने; रूपम्—रूप को; जगृहे—प्रकट किया; हरिः—भगवान् ने।

भगवान् तीनों लोकों के सर्वश्रेष्ठ मित्र तथा शुभचिन्तक हैं। इस तरह जब देवताओं ने अमृत पीना प्रायः समाप्त किया तब भगवान् ने समस्त असुरों के समक्ष अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया।

एवं सुरासुरगणाः समदेशकाल-

हेत्वर्थकर्ममतयोऽपि फले विकल्पाः ।

तत्रामृतं सुरगणाः फलमञ्जसापु-

र्यत्पादपङ्कजरजःश्रयणान्न दैत्याः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सुर—देवता; असुर-गणाः—तथा असुर; सम—समान; देश—स्थान; काल—समय; हेतु—कारण; अर्थ—उद्देश्य; कर्म—कर्म; मतयः—अभिलाषा; अपि—यद्यपि एक; फले—फल में; विकल्पाः—समान नहीं; तत्र—वहाँ पर; अमृतम्—अमृत; सुर-गणाः—देवता; फलम्—फल; अञ्जसा—आसानी से, पूरी तरह, प्रत्यक्षतः; आपुः—प्राप्त; यत्—जिससे; पाद-पङ्कज—भगवान् के चरणकमलों की; रजः—केसर की धूलि; श्रयणात्—आश्रय ग्रहण करने या वर प्राप्त करने से; न—नहीं; दैत्याः—असुरगण।

यद्यपि देवताओं तथा असुरों के देश, काल, कारण, उद्देश्य, कर्म तथा अभिलाषा एक-जैसे थे, किन्तु देवताओं को एक प्रकार का फल मिला और असुरों को दूसरे प्रकार का। चूँकि देवता सदैव भगवान् के चरणकमलों की धूलि की शरण में रहते हैं अतएव वे बड़ी आसानी से अमृत पी सके और उसका फल भी पा सके। किन्तु भगवान् के चरणकमलों का आश्रय न ग्रहण करने के कारण असुर मनवांछित फल प्राप्त करने में असमर्थ रहे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (४.११) में कहा गया है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्*— भगवान् परम न्यायकर्ता हैं, जो विभिन्न मनुष्यों को उनके चरणकमलों की शरण में जाने के अनुसार पुरस्कृत करते या दण्ड देते हैं। अतएव यह वस्तुतः देखा जा सकता है कि यद्यपि कर्मी तथा भक्त एक ही स्थान पर, एक ही काल में, एक ही जैसी शक्ति तथा एक ही अभिलाषा से कार्य करते हैं, किन्तु उन्हें पृथक्-पृथक् फल प्राप्त होते हैं। कर्मी जन्म-मृत्यु के चक्र में बँधकर विभिन्न शरीरों में देहान्तर करते हैं—कभी ऊपर जाते हैं, तो कभी नीचे और इस तरह कर्मचक्र में अपने कर्मों का फल भोगते हैं। किन्तु भक्त भगवान् के चरणों में पूर्णतया समर्पण करने के कारण कभी भी अपने प्रयासों में असफल नहीं होते। यद्यपि वे बाह्य रूप से कर्मियों की तरह ही कर्म करते हैं, किन्तु वे भगवद्धाम को वापस जाते हैं और प्रत्येक प्रयास में सफल होते हैं। असुरों या नास्तिकों को अपने प्रयासों पर विश्वास रहता है, फिर भी वे अहर्निश कठोर परिश्रम करके भी अपने भाग्य से अधिक प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु भक्त कर्मफलों को पार करके बिना प्रयास के ही अद्भुत फल प्राप्त कर सकते हैं। यह भी कहा गया है—*फलेन परिचीयते*—किसी कार्य की सफलता या असफलता उसके फल से जानी जाती है। ऐसे अनेक कर्मी होते हैं, जो भक्तों के वेश में रहते हैं, किन्तु भगवान् उनके प्रयोजन को जान सकते हैं। कर्मीजन भगवान् की सम्पत्ति का उपयोग अपनी स्वार्थपूर्ण इन्द्रियतृप्ति के लिए करना चाहते हैं, किन्तु भक्त उसे ईश्वर की सेवा में लगाना चाहते हैं। अतएव भक्त सदैव कर्मी से पृथक् रहता है भले ही कर्मीजन भक्तों का वेश बना लें। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (३.९) में यों हुई है—*यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*। जो भगवान् विष्णु के लिए कर्म करता है, वह इस भौतिक जगत से मुक्त होता है और इस शरीर को त्यागकर भगवद्धाम को जाता है। किन्तु कर्मी बाह्यरूप से भक्त-जैसा कर्म करने पर भी अपने अभक्तिमय कर्म में फँस जाता है और इस तरह संसार के क्लेशों को भोगता है। इस तरह

कर्मियों तथा भक्तों द्वारा प्राप्त फलों से भगवान् का अस्तित्व समझा जा सकता है, जो कर्मियों तथा ज्ञानियों के साथ भक्तों की तुलना में भिन्न रूप से व्यवहार करते हैं। अतः श्रीचैतन्य-चरितामृत का लेखक कहता है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'

इन्द्रियतृप्ति चाहने वाले कर्मी, ब्रह्म में विलीन होने की मुक्ति की अभिलाषा करने वाले ज्ञानी तथा योगशक्ति में भौतिक सफलता की खोज करने वाले योगी—ये सभी अशान्त रहते हैं और अन्ततोगत्वा निराश हो जाते हैं। किन्तु भक्त, जो अपने किसी निजी लाभ की आशा नहीं करता और जिसकी एकमात्र अभिलाषा भगवान् की महिमा को प्रसारित करने की रहती है, बिना कठिन श्रम के भक्तियोग के समस्त शुभफल पाता है।

यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-

देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत्पृथक्त्वात् ।

तैरेव सद्भवति यत्क्रियतेऽपृथक्त्वात्

सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; युज्यते—सम्पन्न किया जाता है; असु—जीवन की रक्षा के लिए; वसु—सम्पत्ति की रक्षा; कर्म—कर्म; मनः—मन के कार्यों से; वचोभिः—शाब्दिक कार्यों से; देह-आत्म-ज-आदिषु—अपने शरीर या परिवार के लिए; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; तत्—वह; असत्—क्षणभंगुर; पृथक्त्वात्—भगवान् से वियोग के कारण; तैः—उन्हीं कार्यों के द्वारा; एव—निस्सन्देह; सत् भवति—वास्तविक तथा स्थायी बनता है; यत्—जो; क्रियते—सम्पन्न किया जाता है; अपृथक्त्वात्—वियोग न होने से; सर्वस्य—हर एक के लिए; तत् भवति—लाभप्रद बन जाता है; मूल-निषेचनम्—वृक्ष की जड़ को सींचने की तरह; यत्—जो।

मानव समाज में मनुष्य की सम्पत्ति तथा उसके जीवन की सुरक्षा के लिए मनसावाचाकर्मणा विविध कार्य किये जाते हैं, किन्तु ये सब कार्य शरीर के लिए या इन्द्रियतृप्ति के लिए ही किये जाते हैं। ये सारे कार्यकलाप भक्ति से पृथक् होने के कारण निराशाजनक होते हैं। किन्तु जब ये ही कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं, तो उनके लाभकारी फल सब में बाँट दिए जाते हैं जिस तरह वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वह समूचे वृक्ष में वितरित हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी कार्यकलापों एवं कृष्णभावनामृत के लिए सम्पन्न कार्यों में अन्तर यही

होता है। सारा जगत सक्रिय है और इसमें कर्मी, ज्ञानी, योगी तथा भक्त सभी सम्मिलित हैं। किन्तु भक्तों के कार्यों के अतिरिक्त सारे कार्यकलाप निराशा एवं समय तथा शक्ति के अपव्यय में समाप्त होते हैं। *मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः*—जो भक्त नहीं है उसकी आशाएँ, उसके कर्म, तथा उसका ज्ञान सभी निराशाजनक होते हैं। अभक्त अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए या अपने परिवार, समाज, जाति या राष्ट्र के लिए कर्म करता है, किन्तु ऐसे सारे कार्य भगवान् से पृथक् होने के कारण *असत्* माने जाते हैं। *असत्* का अर्थ है बुरा, या क्षणिक तथा *सत्* का अर्थ है अच्छा तथा स्थायी। कृष्ण की तुष्टि के लिए किये गये कार्य स्थायी तथा उत्तम होते हैं, किन्तु *असत्* कार्य भले ही परोपकार या राष्ट्रवाद माने जाए, यह 'वाद' या वह 'वाद' कभी स्थायी परिणाम नहीं देता, फलतः निकृष्ट हैं। कृष्णभावनामृत में किया गया थोड़ा सा कार्य भी स्थायी निधि है और सर्वशुभ है क्योंकि यह सर्वकल्याणकारी भगवान् कृष्ण के लिए किया जाता है, जो हर एक के सुहृद हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। भगवान् ही हर एक वस्तु के एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्*) अतएव भगवान् के लिए किया गया कोई भी कार्य स्थायी होता है। ऐसे कर्मों के फलस्वरूप कर्ता तुरन्त पहचान लिया जाता है। *न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः*। ऐसा भक्त, भगवान् का पूर्ण ज्ञान रखने के कारण तुरन्त दिव्य बन जाता है यद्यपि ऊपर से वह भौतिकतावादी कार्यों में व्यस्त दिखाई दे। भौतिकतावादी कर्म तथा आध्यात्मिक कर्म का अन्तर यही है कि भौतिक कर्म अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए किया जाता है, जबकि आध्यात्मिक कर्म भगवान् की दिव्य इन्द्रियों को तुष्ट करने के लिए किये जाते हैं। आध्यात्मिक कर्म से हर एक को वास्तविक लाभ मिलता है, जबकि भौतिकतावादी कर्म से किसी को लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह कर्म के नियमों में बँधता जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कंध के अन्तर्गत "मोहिनी-मूर्ति के रूप में भगवान् का अवतार" नामक नवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।